04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 47

प्रतिमान

संवाद

चुनाव और हमारा विवेक

चुनाव, सेफ़ोलॉजी और समाजशास्त्र-3

सतीश देशपाण्डे | कमल नयन चौबे

आधुनिक भारतीय समाज एक तरह से चुनावमय समाज है। निचले से निचले स्तर से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे स्तर तक चुनाव होते रहते हैं। पूरा राष्ट्रीय सामाजिक जीवन चुनाव के ज़रिये संसाधित होता है और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी काफ़ी हद तक चुनाव के ज़रिये ही चलती है। इस तरह चुनाव और समाज के विकास में सीधा रिश्ता नज़र आता है। फिर भी, हमारे यहाँ चुनाव का समाजशास्त्र विधिवत् विकसित नहीं किया गया है। इसका इतिहास बहुत कमज़ोर है और वर्तमान त.करीबन नदारद। आख़िर हमारे समाजशास्त्री इस ओर क्यों ध्यान नहीं देते हैं।

सतीश देशपाण्डे : आपके सवाल के दो भाग हैं। सवाल के पहले भाग में चुनाव, समाज और राजनीति के बीच एक प्रकार के संबंध की प्रस्तावना है। दूसरे भाग में यह है कि इस विषय पर या इस क्षेत्र में समाजशास्त्रीय काम क्यों नहीं हुआ है। तो हम दोनों भागों को अलग-अलग करके देखें तो शायद सहूलियत होगी। पहले भाग में मेरा मानना यह है कि सवाल को थोड़े अलग ढंग से पेश करना ज़रूरी है। जो कारण आप बता रहे हैं, उसी के चलते ऐसा करना आवश्यक है। हमारा समाज ख़ास तौर पर पिछले एक-दो दशकों में चुनावमय हो गया है और इस वजह से चुनाव एक ऐसी परिघटना बन गयी है जिसमें कुछ अजीब बातें आ गयी हैं। ये अजीब बातें, या विकृत्तियाँ या जो कुछ भी आप कहना चाहें, ये हैं कि एक स्तर पर हम सबको पता है कि जो बृहद राजनीतिक प्रक्रिया है या राजनीतिक जगत है, चुनाव उसका एक अंश मात्र है, उसका एक भाग मात्र है। लेकिन यह एक ऐसा भाग है जो अपनी दृश्यता के कारण

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 48

और मीडिया के अनुकूल होने के कारण काफ़ी ज़्यादा चर्चा में रहता है। यह सिफल एक परिघटना ही नहीं है, बल्कि एक घटना भी है जिसकी एक निश्चित तारीख और मियाद आदि होती है और यह सार्वभौम होती है अर्थात् सब पर लागू होती है और सब पर असर करती है। इसके कारण यह राजनीति का एक ऐसा भाग है, जो अपने से बृहद प्रक्रिया अर्थात् राजनीति को ही अपने में समा लेता है और हमें लगने लगता है कि राजनीति का मतलब चुनाव है और इस तरह चुनाव राजनीति का पर्याय बन जाता है। मेरे ख़याल से ऐसा होना सही नहीं है। मुझे लगता है कि हर किसी को पता है कि चुनाव ही राजनीति का पर्याय नहीं है। लेकिन हर बार जो सहज-बोध या कॉमनसेंस बनता है उसमें चुनाव अन्य सारी राजनीतिक प्रक्रिया को निगल जाता है। इसलिए हमें शुरू में ही यह मान कर चलना होगा कि समाज और सामाजिक प्रक्रियाएँ, जो शायद सबसे व्यापक स्तर पर होती हैं, उनके भीतर ही राजनीतिक प्रक्रियाएँ होती हैं और एक राजनीतिक क्षेत्र होता है।

हर किसी को पता है कि चुनाव ही राजनीति का पर्याय नहीं है। लेकिन हर बार जो ... कॉमनसेंस बनता है उसमें चुनाव अन्य सारी राजनीतिक प्रक्रिया को निगल जाता है। इसलिए हमें शुरू में ही यह मान कर चलना होगा कि ... चुनाव अलग से एक क्षेत्र नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक यथार्थ का ही एक आयाम है।

चुनाव अलग से एक क्षेत्र नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक यथार्थ का ही एक आयाम है। चुनाव के अस्तित्व को इस तरह समझने के बाद हम समाज, राजनीति और चुनाव की एक त्रिकोण के रूप में कल्पना कर सकते हैं। ऐसी कल्पना करने पर हमें इसे समझने में और इसके विश्लेषण में ज़्यादा सहूलियत होगी।

चुनाव की विशिष्टता यह है कि यह अपने से ज़्यादा बड़ी या व्यापक परिघटना को एक अचूक लक्षण के रूप में प्रस्तुत करता है। यह राजनीति के लक्षण के रूप में सामने आता है। राजनीति एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जो हमें हमेशा नहीं दिखाई पड़ती। राजनीति में कई घटनाएँ एक साथ होती हैं और इस अदृश्य प्रक्रिया का मूर्त-रूप चुनाव बन जाता है जिसकी वजह से इस ओर हमारा ज़्यादा ध्यान जाता है। इससे फ़ायदे भी हैं और नुक़सान भी। नुक़सान यह है कि यह एक तीव्र प्रकाश की तरह सामने आता है और हर तीव्र प्रकाश के आस-पास काफ़ी गहरी परछाईं होती है। इसी तरह, चुनाव के इर्द-गिर्द जो प्रक्रियाएँ हैं, वे हमें उतनी साफ़ नज़र नहीं आतीं। इसलिए हमें चुनाव से एक तरह से चौकन्ना रहना है और हमें यह भी याद रखना है कि कई बार चुनावी प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया के ख़िलाफ़ या उसके बनाम खड़ी रहती है। और, यह सम्भावना भी रहती है कि जहाँ चुनाव हो रहे हैं, वहाँ राजनीति समाप्त हो चुकी हो और चुनाव के नाम पर मात्र एक नाटक हो रहा हो। हालाँकि कई जगह यह सम्भावना भी होती है कि ख़ुद चुनाव एक जीवंत राजनीतिक प्रक्रिया की मिसाल बन जाते हैं। हमारे देश में हर तरह की मिसाल मिलती है। इसलिए हमें चुनाव की इन अलग-अलग सम्भावनाओं का आभास रहना चाहिए।

अब हम आपके सवाल के दूसरे भाग पर आते हैं कि इस क्षेत्र पर समाजशास्त्री काम कम क्यों हुआ है। इस पर हमें दो तरह से विचार करना होगा। एक तो विशिष्ट विषय या अनुशासन के नज़रिये से देखना होगा और दूसरा सम्पूर्ण समाज-विज्ञान के नज़रिये से देखना होगा। दोनों ही नज़रियों में यह बात सामने आती है कि हमारा अकादमिक जीवन विविध अनुशासनों में बँटा हुआ है। जब पचास और

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 49

साठ के दशक में ये अनुशासन नये थे, तो वे अपने क्षेत्र की रक्षा में कुछ ज़्यादा तत्पर थे। एक ख़ास तरह की प्रवृत्ति थी जिसमें विभिन्न अनुशासनों से जुड़े विद्वान अपने अनुशासन/विषय की सीमा तय करने और उस पर अपनी मिल्क़ियत स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। इसी सिलसिले में हमारे यहाँ हुआ यह कि चुनाव राजनीतिशास्त्र के पाले में चले गये। इसी कारण दूसरे अनुशासनों ने बिना किसी हिचक के चुनाव के प्रति एक तरह की उदासीनता बरती। स्पष्ट तौर पर दूसरे अनुशासनों द्वारा चुनावों की उपेक्षा का यह एक प्रमुख कारण था। यानी इन अनुशासनों के विद्वानों ने इसे राजनीतिशास्त्रियों का विषय मान कर इससे पल्ला झाड़ लिया। नतीजनत चुनावी विश्लेषण के लिए वे ख़ुद को उत्साहित चुनाव राजनीतिशास्त्र के पाले में चले गये। इसी कारण दूसरे अनुशासनों ने बिना किसी हिचक के चुनाव के प्रति एक तरह की उदासीनता बरती। स्पष्ट तौर पर दूसरे अनुशासनों द्वारा चुनावों की उपेक्षा

> चुनाव राजनीतिशास्त्र के पाले में चले गये। दूसरे अनुशासनों ने बिना किसी हिचक के चुनाव के प्रति एक तरह की उदासीनता बरती। ... इन अनुशासनों के विद्वानों ने इसे राजनीतिशास्त्रियों का विषय मान कर इससे पल्ला झाड़ लिया। चुनावी विश्लेषण के लिए ... उनके मन में उत्सुकता नहीं जगती।

का यह एक प्रमुख कारण था। यानी इन अनुशासनों के विद्वानों ने इसे राजनीतिशास्त्रियों का विषय मान कर इससे पल्ला झाड़ लिया। नतीजतन चुनावी विश्लेषण के लिए वे ख़ुद को उत्साहित नहीं करते या इसके लिए उनके मन में उत्सुकता नहीं जगती।

जहाँ तक मेरे विषय यानी समाजशास्त्र का ताल्लुक़ है, इस संदर्भ में उसका एक रोचक इतिहास है। यह कोई बहुत बड़ा इतिहास नहीं है, छोटा मगर दिलचस्प है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। पचास और साठ के दशक में मेरे अनुशासन से जुड़े जी.एस. घुर्ये या एम.एन. श्रीनिवास जैसे विद्वान जिस तरह के ज्ञान में आस्था रखते थे, उसमें राजनीति और राजनीतिक समाजशास्त्र की एक ख़ास छवि थी। वह छवि मानवशास्त्र से ज़्यादा प्रभावित थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय में या उसके पहले के दशकों में मानवशास्त्र में 'प्राचीन', 'असभ्य' या 'पिछड़े' समाजों का अध्ययन किया जाता था। ऐसे में राजनीतिक समाजशास्त्र की भी इसी रूप में कल्पना की गयी। हमारे विषय के दिग्गज़ों, ख़ास तौर पर एम.एन. श्रीनिवास पर अफ़्रीका में किये गये काम का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा। इस अध्ययन में अफ़्रीका के क़बीलाई समाज को राज्यहीन समाज यानी स्टेटलेस सोसायटी क़रार दिया गया था। इसकी वजह से जिस तरह के प्रत्यय बने, तर्क गढ़े गये और फिर जिस तरह की परम्परा स्थापित हुई, उसमें ग़ैर-पश्चिमी 'पिछड़े', 'राज्यहीन' समाज में चुनाव जैसी परिघटना को समझने की क्षमता नहीं थी। दूसरी ओर, आज़ादी के बाद वैसा आधुनिक लोकतंत्र स्थापित हो गया, जैसा पश्चिमी देशों में था और चुनाव इस लोकतंत्र के एक प्रमुख घटक के तौर पर सामने आया। यह एक ऐसी स्थिति थी कि मानो कहीं और से पौधा उठा कर यहाँ रोप दिया गया हो। इसके कारण हमारे यहाँ एक निश्चित और चिरायु परम्परा नहीं बनी। हमारे यहाँ तो ऐसे 'पिछड़े' समाज के अध्ययन की परम्परा थी, जहाँ राज्य-सत्ता आदि न हो। इस तरह, भारतीय समाजशास्त्र ने पाया कि उसके पास चुनाव का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त यंत्र, औज़ार या प्रत्यय नहीं हैं।

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 50

दूसरी तरफ़, फ़ौरी तौर पर करने के लिए बहुत कुछ था और उसे प्रोत्साहित भी किया जा रहा था। ख़ास तौर पर जाति के प्रश्न पर ऐसा हो रहा था, जो कि एक तरह से भारतीय समाज की ख़ासियत थी। समाजशास्त्र के उद्यम का बहुत बड़ा भाग जाति के सवाल के विश्लेषण में चला गया। यहाँ एक संदर्भ यह है कि अकादमी में जितने भी प्रोफ़ेसरान रहे हैं, वे ज़्यादातर ऊँची जाति और कुलीन तबक़ों से आये थे। बांग्ला में इसके लिए 'भद्रलोक' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ख़ास तौर पर पचास-साठ के दशक में यह स्थिति थी। वे कहने को ख़ुद को मध्यवर्गीय कहते थे, लेकिन वे अभिजात वर्ग के अंश थे। इनमें सड़क की राजनीति या चुनावी राजनीति के प्रति एक तरह का संकोच, दुविधा या झेंप थी। उसे वे सज्जन लोगों के लिए वर्जित घटिया चीज़ मानते थे। यह कारण भी शायद परोक्ष रूप से काम कर रहे हों। लेकिन मेरे ख़याल से शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि चुनाव को राजनीतिशास्त्र के पाले में डाल दिया गया था, समाजशास्त्री इसमें जाना नहीं चाहते थे और अर्थशास्त्री तो ख़ैर अपनी ही दुनिया में थे। उनके पास न तो इसके लिए समय था और न ही प्रत्यय। इसलिए इन सब कारणों से इस पर ज़्यादा काम हो नहीं पाया। और जिस तरह का काम हुआ, वह बाधक ज़्यादा और साधक कम था। ख़ास तौर पर जो 'वोट बैंक' का प्रत्यय था, उसने लोगों को बेवजह गुमराह किया।

आगे हम 'वोट बैंक' के पहलू पर विस्तार से विचार करेंगे। लेकिन यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि पिछले कुछ दशकों में चुनावी अध्ययन के संबंध में सेफ़ोलॅजी का उभार हुआ है। चुनाव के संदर्भ में सेफ़ोलॅजी और सोसियोलॅजी के बीच फ़र्क़ कैसे रेखांकित किया जा सकता है? समाज-विज्ञान की दृष्टि से सेफ़ोलॅजी की क्या-क्या सीमाएँ हैं? सेफ़ोलॅजी से अलग रहते हुए इलेक्शन की सोसियोलॅजी के क्या-क्या मुक़ाम हैं? वे कौन-कौन सी रिसर्च टेक्नीक्स हैं जो इस सोसियोलॅजी के विकास में मददगार हो सकती हैं?

सतीश देशपाण्डे : अगर हम एकदम संक्षेप में कहें तो सेफ़ोलॅजी चुनाव के नतीजों से परिभाषित होती है। अगर आप सेफ़ोलॅजिस्ट हैं तो चुनाव के नतीजे आपके लिए सर्वोपरि हैं। और इन चुनावी नतीजों के घटित होने से पहले यदि आप उन्हें एक भविष्यवाणी के तौर पर दिखा सकें तो आप एक सफल सेफ़ोलॅजिस्ट हैं। कुछ सेफ़ोलॅजिस्ट कहते हैं कि वे ऐसा नहीं कर रहे हैं लेकिन कुल मिला कर हो यही रहा है। बाज़ार अब काफ़ी हॉवी हो गया है। हमारा समाज इस क़दर चुनावमय हो गया है कि समाज के पण्यीकरण (कॉमोडिटीफ़िकेशन) में चुनाव भी एक पण्य या कॉमोडिटी बन गया है। यह बाज़ार बहुत बड़ा बाज़ार है जो अकादमी के ना-नुकुर की परवाह नहीं करता। आप जितना भी परहेज़ करें, बाज़ार में एक ज़बरदस्त क़िस्म का गुरुत्वाकर्षण है, जो हर सेफ़ोलॅजी करने वाले को खींच-तान कर चुनावी भविष्यवाणी की ओर ले जाती है। अकादमिक अध्ययन के लिहाज़ से यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। असल में, चुनावी परिणाम चुनावी राजनीति का एक आयाम भर है। इसलिए यदि यह सेफ़ोलॅजी और समाज-विज्ञान के बीच में अंतर करें तो सबसे महत्त्वपूर्ण यही सामने आती है कि सेफ़ोलॅजी के लिए चुनावी नतीजे सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, जबकि किसी समाज विज्ञान के लिए यह अध्ययन का एक आयाम मात्र है। इसी से फिर अलग-अलग रिचर्स टेक्नीक्स और प्रविधियों की भी बात आ जाती है क्योंकि जब आप सिफल नतीजों तक सीमित नहीं रहते, तो विषय विस्तृत हो जाता है और इसके साथ ही प्रयोग में आने वाली प्रविधियों में भी इज़ाफ़ा होता है। आप पार्टिसिपेंट ऑब्जरवेशन या सहभागी प्रेक्षण कर सकते हैं, आप एक ही क्षेत्र में लम्बे समय तक अध्ययन कर सकते हैं। यानी आप एक ही क्षेत्र में 10-15 साल तक अध्ययन कर सकते हैं, जिसे पैनल स्टडी कहते हैं; या आप एक ही समुदाय के जीवन को देख सकते हैं। इस तरह आपके लिए बहुत सारी प्रविधियाँ उपलब्ध होती हैं, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि आप ख़ुद को सिफल चुनावी नतीजों तक सीमित न रखें।

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 51

लेकिन, सी.एस.डी.एस. में जिस तरह के चुनावी अध्ययन होते हैं उसमें चुनावी नतीजों के अलावा कई अन्य आयामों पर भी ध्यान दिया जाता है। मसलन, इस बार के प्रतिमान के अंक में एक लेख पिछले कई चुनावों में मुसलमानों के मत-व्यवहार से संबंधित है। क्या इस तरह के अध्ययन समाजशास्त्र के लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं?

सतीश देशपाण्डे : बिल्कुल सहायक माने जा सकते हैं, लेकिन यह पूरी तरह से इस बात पर निर्भर करता है कि अध्ययन में किस बात पर ध्यान केंद्रित किया गया है। अभी तो आप मोटे तौर पर लेख के शीर्षक के बारे में बता रहे हैं, जो कि अपने-आप में समाजशास्त्रीय विषय है। लेकिन सवाल यह है कि इस अध्ययन में किस तरह की प्रविधि का प्रयोग हुआ है, अध्ययन का परिप्रेक्ष्य क्या था, लोगों से किस तरह के सवाल पूछे गये और किस तरह के जवाब को उपयुक्त माना गया और अध्ययन की सफलता की शर्तें क्या थीं। इस तरह के अध्ययन में बहुत सतही सवाल भी पूछे जा सकते हैं। चुनाव के साथ सबसे बड़ा ख़तरा यह है कि यह एक ख़ास समय में होने वाली घटना है, जिसका एक नतीजा

चुनावी परिणाम चुनावी राजनीति का एक आयाम भर है। इसलिए यदि यह सेफ़ोलॉजी और समाज-विज्ञान के बीच में अंतर करें तो सबसे महत्त्वपूर्ण यही सामने आती है कि सेफ़ोलॉजी के लिए चुनावी नतीजे सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, जबकि किसी समाज-विज्ञान के लिए यह अध्ययन का एक आयाम मात्र है।

सामने आता है। यह सोचने के लिए बौद्धिक और सैद्धांतिक रूप से घातक होता है। यदि हमारी रुचि राजनीति में है और केवल चुनाव में नहीं है, तो हमारे लिए सिफल चुनावों पर निर्भर होना बहुत ही ख़तरनाक है। चुनाव में यह क्षमता होती है कि वह आपके अध्ययन का सारा ध्यान अपनी ओर खींच ले, अन्य परिप्रेक्ष्यों से अलग कर दे और आपके अध्ययन को काफ़ी सतही बना दे।

आमतौर पर यह माना जाता है कि भारत में एक नये मध्यवर्ग का उभार हुआ है, जो भारतीय जनता की भूमण्डलीय आकाँक्षाओं का वाहक माना जाता है। क्या अपना वोट डालते समय इस वर्ग के सदस्य वर्गीय आचरण करते हैं या फिर ये लोग मतदाता के रूप में जातिगत निष्ठाओं को प्राथमिकता देते हैं? ख़ास तौर पर पिछली दिल्ली विधानसभा के चुनावों के बाद इस पहलू पर ज़्यादा बातचीत होने लगी है कि अब एक ऐसा वर्ग का उभार होने लगा है, जिसे जाति आदि जैसी संकुचित पहचानों से कोई ख़ास लेना-देना नहीं है और उसके लिए भ्रष्टाचार मुक्त विकासोन्मुख राजनीति ही सबसे प्रमुख चीज़ है।

सतीश देशपाण्डे : इसे अलग-अलग तरीक़े से देखा जा सकता है। यदि आप इसे एकदम वर्तमान अर्थात् आम आदमी पार्टी (आप) के आने के बाद के संदर्भ में देखें तो इसका एक अलग अर्थ सामने आएगा; लेकिन यदि इसे आप मध्यवर्ग की ज़्यादा पारम्परिक परिभाषाओं के संदर्भ में देखें तो इसका एक अन्य अर्थ सामने आता है। सबसे पहले हम वर्तमान संदर्भ पर ही विचार करते हैं। इस बात में कोई शक नहीं है कि आप पार्टी ने नयी राजनीतिक सम्भावनाएँ पैदा की हैं। हालाँकि अभी

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 52

यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में यह पार्टी किस दिशा में जाएगी। शायद ख़ुद इस पार्टी के लोग भी इस बारे में अभी पक्के तौर पर कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। लेकिन इस बात में संदेह नहीं है कि इसने चुनावी राजनीति की सम्भावनाओं में, इसके द्वारा किये जा सकने वाले बदलावों की सम्भावना में इज़ाफ़ा किया है। इसकी सफलता से भी यह बात सामने आयी है कि एक नया मतदाता समूह सामने आया है, जिसे लुभाने के लिए या ख़ुद से जोड़ने के लिए आपको अलग और नये तरीक़े से काम करना होगा। इस समूह के मुद्दे और प्राथमिकताएँ अलग हैं। एक स्तर पर इसे जवान और बूढ़ी पीढ़ी के बीच अंतर के रूप में भी पेश किया जाता है। लेकिन मेरा मानना है कि यह सही नहीं है। इसमें एक अन्य बात भी है कि अब बहुत से लोगों को शहरी क्षेत्र में एक नये क़िस्म के मतदाता वर्ग का उभार दिख रहा है जो चुनावी राजनीति के पारम्परिक मुहावरों से काफ़ी अलग है। हालाँकि इसके बारे में अभी पक्के तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता है। हालाँकि इसकी सम्भावना ज़रूर है और इसे ध्यान से देखने की आवश्यकता है।

मध्यवर्ग ... एक इतना भ्रामक शब्द है कि हमें इस शब्द को भूल जाना चाहिए। यह इतना ज़्यादा व्यापक प्रत्यय बन चुका है कि हर कोई ख़ुद को मध्यवर्ग का सदस्य मानता है। असल में, प्रत्यय वही धारदार होता है, जो हर चीज़ पर लागू न हो, बल्कि उससे कुछ विशिष्ट बातें जुड़ी हुई हों और जिसका विशिष्ट कार्य-क्षेत्र हो।

लेकिन यदि हम दूसरे स्तर पर मध्यवर्ग के ज़्यादा स्थिर और पारम्परिक अर्थ पर विचार करते हैं, तो मेरा यह मानना है कि यह एक ऐसा भ्रामक शब्द है कि हमें इस शब्द को भूल जाना चाहिए। यह इतना ज़्यादा व्यापक प्रत्यय बन चुका है कि हर कोई ख़ुद को मध्यवर्ग का सदस्य मानता है। असल में, प्रत्यय वही धारदार होता है, जो हर चीज़ पर लागू न हो, बल्कि उससे कुछ विशिष्ट बातें जुड़ी हुई हों और जिसका विशिष्ट कार्य-क्षेत्र हो। लेकिन मोटे तौर पर जो तबक़ा ख़ुद को मध्यवर्ग कहता है, उसके लिए, मेरे ख़याल में ज़्यादा उपयुक्त विवरण होगा— सम्पन्न वर्ग। हमारे यहाँ सम्पन्न वर्ग और चुनावी राजनीति में छत्तीस का रिश्ता रहा है। यही वह तबका है जो खुले आम यह कहता है कि उसे चुनावी राजनीति में कोई रुचि नहीं है, बल्कि इस पूरी प्रक्रिया से घृणा है। सिफ़ल कहने-सुनने की बात नहीं है, बल्कि असलियत भी है कि इस तबक़े को अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए राजनीतिक रास्तों का सहारा नहीं लेना पड़ता है, बल्कि यह ग़ैर-राजनीतिक तरीक़े से अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है। चूँकि उसे अपनी माँगों को पूरा करने के लिए कभी राजनीति का सहारा नहीं लेना पड़ता है, इसलिए वह ख़ुद को इस प्रक्रिया से ऊपर मानता है।

इस वर्ग का यह सहज-बोध भी है कि राजनीति एक घटिया चीज़ है और इसमें अच्छे लोग भाग नहीं लेते। इसलिए यह वर्ग चुनावों को कभी भी गम्भीरता से नहीं लेता है, बल्कि इससे संबंधित लोग यह मानते हैं कि चुनावों के कारण उनके वाजिब मंसूबों पर पानी फेर दिया जाता है। उनकी ख़ुद की भावना यह है कि प्रजातंत्र व्यापक समाज के हित के नाम पर, ग़रीबों के कल्याण के नाम पर उनकी

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 53

वाजिब इच्छाओं को दबाता रहा है। इसलिए उन्हें इससे घृणा है, बल्कि यह कह सकते हैं कि परहेज़, धिक्कार आदि के साथ अब उन्हें एक तरह का भय भी हो गया है।

इसमें मीडिया की ख़ास भूमिका रही है और इसका उभार हम आप पार्टी के आने के बाद भी देख सकते हैं। इसके कारण, इस वर्ग और राजनीति के बीच पहले जो एक तरह की पत्थर की लकीर खिंची हुई थी, वह धुँधली पड़ने लगी है। अब अजीब-अजीब तरह के लोग चुनावी राजनीति की ओर आकृष्ट हुए हैं, जिन्हें शायद पहले इस तरह की राजनीति में कोई रुचि नहीं थी। मेरे ख़याल से यह प्रगतिशील घटना है। अगर एक वर्ग जिसे पहले राजनीति से कोई लेना-देना नहीं था, अब यदि वह यह महसूस करता है कि राजनीति और चुनावी राजनीति की उपेक्षा नहीं की जा सकती तो यह एक सकारात्मक परिघटना ही है। इसलिए मध्यवर्ग की राजनीति से जो शत्रुता है वह अब कमज़ोर पड़ने लगी है और उसमें अलग तरह के भाव भी आने लगे हैं, जो कि अच्छी बात है।

हमारे यहाँ सम्पन्न वर्ग और चुनावी राजनीति में छत्तीस का रिश्ता रहा है। ... असलियत भी है कि इस तबक़े को अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए राजनीतिक रास्तों का सहारा नहीं लेना पड़ता है, बल्कि यह ग़ैर-राजनीतिक तरीक़े से अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है। ... वह ख़ुद को इस प्रक्रिया से ऊपर मानता है।

कई मरतबा मध्य वर्ग को निम्न-मध्यवर्ग, मध्यम-मध्यवर्ग और उच्च-मध्यवर्ग में भी विभाजित किया जाता है। और ऐसा लग रहा है कि आप जिस मध्य वर्ग की बात कह रहे हैं, वह दरअसल उच्च-मध्यवर्ग की बात है।

सतीश देशपाण्डे : हाँ, यह सही है। मध्यवर्ग मेरी रिसर्च का विषय रहा है। मेरा कहना यह है कि यदि आप मध्यवर्ग को एक कारगर शब्द के रूप में इस्तेमाल करना चाहते हैं तो आपको इस शब्द के अलावा कई अन्य शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। जैसे जब आप निम्न-मध्यवर्ग शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, तो आप एक ख़ास तबक़े की बात कर रहे हैं, तो इसके लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। आख़िर इसके साथ मध्यवर्ग शब्द जोड़ने का कोई ख़ास मतलब नहीं है। मेरा कहना सिफल यह है कि यदि हम इस तरह निम्न या उच्च-मध्यवर्ग आदि का प्रयोग करते हैं तो एक तरह की भ्रम की स्थिति पैदा होती है।

इसलिए हमें नये तरह की शब्दावली गढ़ने पर ध्यान देना चाहिए। निश्चित रूप से, निम्न-मध्यवर्ग की अपनी एक सामाजिक-राजनीतिक दुनिया है। लेकिन राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में मध्यवर्ग की एक ख़ास नैतिक भूमिका रही है। इसमें एक तरह का नैतिक दावा निहित होता है, जो कि संख्या पर आधारित होता है या कम-से-कम संख्या का दावा करता है। इसलिए मध्यवर्ग की धारणा काफ़ी प्रभावशाली है। इसका बहुत छोटा अंश हमारी नज़रों के सामने रहता है और बड़ा हिस्सा हमारी नज़रों से ओझल रहता है लेकिन वह अपना काम कर रहा होता है। इसमें इस बात को एक तरह से गड्डमड्ड कर दिया जाता है कि जो समाज में सबसे सामान्य है और सबसे साझा है, वह मध्य वर्ग से संबंधित है। इसलिए मुझे

हमेशा यह लगता है कि हम जिस तबक़े की बात कर रहे हैं, उसका ठोस विवरण ही क्यों न दें। ऐसा करना हमारे लिए ज़्यादा कारगर होगा। असल में, मध्यवर्ग का प्रयोग कई बार एक हाथ की सफ़ाई की तरह भी होता है। मतलब आप जो कह रहे हैं, उसमें ज़बरदस्त नैतिक दावा है, लेकिन वास्तव में आप जिसके बारे में बात कर रहे हैं, वह एक छोटा तबक़ा है। इस शब्द के ज़रिये बहुत सारी चीज़ों को लपेट लिया जाता है। इसलिए मध्यवर्ग शब्द के प्रयोग के बारे में सावधान होना आवश्यक है।

एक तरह का विभाजन शहरी समुदाय और ग्रामीण समुदाय के रूप में भी दिखता है। क्या चुनावी राजनीति इन पर अलग-अलग असर डालती है?

सतीश देशपाण्डे : मुझे लगता है कि चुनावी प्रक्रिया शहरी समुदाय और ग्रामीण समुदाय पर अलग-अलग प्रभाव डालती है। शहरी क्षेत्रों और ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी अलग-अलग लय और ताल होती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि अस्सी के दशक तक जिन लोगों का वर्चस्व था, वे संख्या में काफ़ी कम थे। इसमें ऊँची जाति, ऊँचे वर्ग और अंग्रेज़ी बोलने वाले शहरी इत्यादि इत्यादि तरह के लोग शामिल थे। पहले यानी आधुनिक दौर से पहले यह माना जाता है कि राजा अलग तत्त्व से बना होता है और प्रजा एक अलग तरह के तत्त्व से बनी होती है। लेकिन लोकतंत्र का उद्‌भव ही इस विचार के साथ हुआ कि ऐसा नहीं है। अब यह विचार सामने आया है कि जो राज करता है उसे नागरिक जैसा ही होना चाहिए। लेकिन जब हमारे यहाँ लोकतंत्र स्थापित हुआ तो यह समझ काफ़ी सतही थी। इस कारण, मुट्‌ठी-भर लोगों का शासन और वर्चस्व स्थापित हुआ। दरअसल, 'कांग्रेस प्रणाली' ने एक तरह से संख्या को फालतू बना दिया था, उसे अल्पसंख्यक वर्चस्वशाली तबक़े की सेवा में प्रस्तुत कर दिया था। साठ-सत्तर के दशक में नक्सल आंदोलन या छात्र आंदोलन के माध्यम से इस वर्चस्व के ख़िलाफ़ सुगबुगाहट शुरू हुई। लेकिन अस्सी के दशक तक इस अभिजात तबक़े का वर्चस्व बना रहा (नब्बे के बाद से हम एक तरह के संक्रमण के दौर में हैं) यह तबक़ा पूरी तरह से शहरी तबक़ा है। नब्बे बाद, मण्डल के बाद नये सिरे से जाति का अहसास हुआ कि जाति तो सबकी है। पहले अभिजात तबक़ा यह मानता था कि उसकी कोई जाति नहीं है और जाति का मतलब होता है निम्न जाति। इस तबक़े का मानना था कि ऊँची जाति तो सेकुलर और आधुनिक होती है। दरअसल, शहर के नागरिक समाज में इसी तबक़े का अंश ज़्यादा है। पहले यह माना जाता था कि असली चुनाव ग्रामीण क्षेत्रों में ही होते हैं और शहरी क्षेत्रों में तो बस यूँ ही चुनाव होते हैं और यहाँ दूसरे तरह की राजनीति होती है। यह ठीक वैसे ही था जैसे यह माना जाता था कि भारत के अधिकांश लोग गाँवों में रहते हैं। लेकिन अब हालात में बदलाव आये हैं क्योंकि शहरीकरण बढ़ा है। तमिलनाडु हमारे देश का सबसे ज़्यादा शहरीकृत राज् य है, जहाँ तक़रीबन 51 प्रतिशत जनसंख्या शहरी है। कुल मिला कर शहरों की जनसंख्या में भी बढ़ोतरी हुई है। इसलिए शहरी चुनाव भी गम्भीर होने लगे हैं। सिफ़ल इस लिहाज़ से नहीं कि यहाँ बड़ी राजनीतिक शख़्सियतों का मुक़ाबला हो रहा है, बल्कि पूरी चुनावी प्रक्रिया काफ़ी राजनीतिक हो गयी है। इस तरह अब हम एक नये चरण में हैं, जहाँ शहरी और ग्रामीण चुनावों के बीच का फ़ासला काफ़ी कम हुआ है। फिर भी, मूल रूप से फ़र्क़ यह है कि शहर और ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक संरचना अलग है।

क्या चुनाव की कोई समष्टिगत (मैक्रो) सोसियोलॉजी सम्भव है? क्या कोई ऐसी सोसियोलॉजी हो सकती है, जो दक्षिण भारत की परिस्थितियों पर भी उतनी ही फ़िट बैठती हो, जितनी उत्तर, पूर्वी या पश्चिमी भारत पर? या भारत में चुनाव की सोसियोलॉजी मुख्य रूप से व्यष्टिगत (माइक्रो) ही होगी, यानी अलग-अलग राजनीतिक क्षेत्रों की अलग-अलग सोसियोलॉजी करनी होगी?

सतीश देशपाण्डे : मेरी समझ में जिस तरह का विरोधाभास इस प्रश्न में प्रस्तुत किया गया है, वह भ्रामक है। समष्टिगत परिप्रेक्ष्य का अर्थ यह नहीं होता है कि आप जिस चीज़ का इस परिप्रेक्ष्य से

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 55

अध्ययन कर रहे हैं, वह होमोजेनस (एकमुश्त) या एकआयामी है। दरअसल, उसका बहुआयामी होना एक तरह से अनिवार्य है। आख़िर समाज में एक ऐसी चीज़ जो लम्बे अरसे से है, व्यापक स्तर पर है, वह एकमुश्त या एकआयामी कैसे हो सकती है। समष्टिगत परिप्रेक्ष्य की मुख्य चुनौती ही यही होती है कि किसी परिघटना के अलग-अलग पहलुओं और आयामों को समेटते हुए और उनकी विशिष्टता क़ायम रखते हुए एक व्यापक परिप्रेक्ष्य तैयार किया जाए। इसमें इन विभिन्न पहलुओं को सपाट तरीक़े से मिलाकर एकरूप करने की बात शामिल नहीं होती है। इसलिए मेरा मानना है कि समष्टिगत और व्यष्टिगत के बीच यहाँ इस तरह का विरोधाभास नहीं है। शायद इस प्रश्न में इशारा इस बात की ओर है कि कोई अखिल भारतीय राजनीति जैसी चीज़ नहीं है। यदि कुछ है तो उत्तर की राजनीति, दक्षिण की राजनीति या विविध प्रदेशों की राजनीति आदि है। लेकिन एक अद्भुत चीज़ हमारे सामने आ रही है और मीडिया और वैश्वीकरण के कारण इसका ख़ूब प्रसार भी हुआ है। यह अद्भुत चीज़ स्थानीय स्तर से राजनीतिक (चुनावी) प्रक्रिया और मंतव्यों के समूहन (एग्रिगेशन) से संबंधित है। इसीलिए हमारे हर चुनाव पर दुनिया की नज़र होती है। हमारा हर चुनाव, हमारी हर जनगणना दुनिया में सबसे बड़ी होती है। इसलिए पूरी दुनिया की उत्सुकता होना स्वाभाविक भी है। इसलिए मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि हो सकता है कि विशिष्ट तरह की क्षेत्रीय या राज्य स्तरीय राजनीति हो, लेकिन ऐसा होने से यह साबित नहीं होता है कि कोई राष्ट्रीय राजनीति नहीं है। इससे सिफल यह सिद्ध होता है कि यह बहुत पेचीदा चीज़ है, क्लिष्ट और उलझी हुई चीज़ है, जिसे समझने में बहुत मेहनत लगेगी। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। यदि बौद्धिक या अकादमिक नज़रिये से देखा जाए तो यह बहुत ही आकर्षक प्रक्रिया भी है। जो भी परिघटना जटिल रूप में सामने आती है, वह बौद्धिक और अकादमिक प्रक्रिया को बढ़ावा ही देती है। तो मेरे ख़याल से दोनों प्रक्रियाएँ समानांतर चलेंगी। स्थानीय स्तर के अध्ययनों का अपना महत्त्व है, लेकिन राष्ट्रीय या व्यापक स्तर के अध्ययन पर ध्यान देने की आवश्यकता भी बनी रहेगी।

दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हो सकते हैं?

सतीश देशपाण्डे : पूरक भी हो सकते हैं और थोड़ा बहुत लड़ाई-झगड़ा भी हो सकता है। मोटे तौर पर, इनके बीच का संबंध सकारात्मक और क्रियात्मक है।

राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय में क्या फ़र्क़ है? क्या राजनीतिक समुदाय केवल मतदाता-मण्डल की तरह आचरण करता है, और इसके इतर इसका कोई वजूद नहीं होता?

सतीश देशपाण्डे : यह एक अच्छा सवाल है और हमारे समाज के अहम् सवालों में एक है। हमारे समाज में औपनिवेशिक दौर से थोड़े पहले से ही, औपनिवेशिक दौर में भी और उत्तर-औपनिवेशिक दौर में भी यह सवाल प्रमुख रहा है कि कौन से ऐसे मसले हैं जिन्हें राजनीतिक तरीक़े से ही सुलझाया जा सकता है और कौन से ऐसे मसले हैं जिन्हें राजनीतिक तरीक़े से इतर सामाजिक स्तर पर किया जा सकता है। तो राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय के बीच का जो फ़र्क़ है, वह इसी पर टिका हुआ है। अभी हमने अभिजात वर्ग या सम्पन्न वर्ग की भी बात की है। तो यह एक प्रमुख सवाल है कि सम्पन्न वर्ग के लिए राजनीति की उपेक्षा करना या उससे अलग रहना आसान क्यों था? ऐसा इसलिए था क्योंकि उसके पास यह सुविधा थी कि वह राजनीति में गये बग़ैर ही अपना स्वार्थ पूरा कर ले। इसी तरह, हमें हर सामाजिक समुदाय के बारे में यह सोचना होगा कि उसकी कौन सी ऐसी ज़रूरतें हैं जो राजनीति से जुड़ी हुई हैं और उसके बग़ैर वे पूरी नहीं हो सकती हैं। यहाँ हमारे पास सोचने के लिए एक बहुत अच्छा उदाहरण मुसलिम समाज का है। मुसलिम समाज की बहुत सी

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 56

आर्थिक, सामाजिक और अन्य तरह की समस्याएँ हैं। लेकिन इनमें से कौन सी समस्याएँ राजनीति के ज़रिये हल की जा सकती हैं। मुसलमानों के संदर्भ में इस प्रश्न का एक ख़ास तरह का जवाब सामने आएगा। लेकिन जब हम यही प्रश्न दलितों या महिलाओं या किसी प्रांत विशेष के बारे में करते हैं, तो अलग तरीक़े से जवाब सामने आता है। इसलिए हमें यह देखना होगा कि विविध समुदायों के लिए राजनीति किस तरह का पटल है, किस तरह का क्षितिज है। इसके आधार पर ही आप इस सवाल का जवाब पा सकेंगे। कई जगह ऐसा होता है कि राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय एक हो जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यहाँ राजनीतिक आकाँक्षाओं और सामाजिक आकाँक्षाओं के एक होने की सम्भावना होती है और इसी से इस समुदाय विशेष को फ़ायदा होता है। लेकिन कई मरतबा ऐसा भी होता है कि ऐतिहासिक संदर्भों के कारण वर्तमान में राजनीतिक व्यवस्था एक समुदाय की आकाँक्षाओं और अभिलाषाओं को बढ़ावा नहीं देती है। ऐसे में इस समुदाय का एक भाग राजनीतिक व्यवस्था के सम्पर्क से अलग हो जाता है या उससे परे हो जाता है। इसलिए हमें हर समुदाय के संदर्भ

स्त्रियों का यथार्थ, उनकी समस्याएँ उन्हें एक दूसरे के करीब ला सकते हैं। लेकिन ... स्त्रियाँ किसी अन्य अस्मिता में पहले से ही धँसी और फ़ँसी हुई हैं। उन्हें इस दूसरी अस्मिताओं से उबारना, ख़ास तौर पर हमारे समाज में बहुत ही मुश्किल काम है। इसलिए वे कभी भी एक समुदाय नहीं सकती हैं।

में यह प्रश्न करना होगा कि यहाँ सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाएँ एक-दूसरे के कितने क़रीब आ पाती हैं। स्त्रियाँ एक अलग तरह का उदाहरण हैं। स्त्रियों का यथार्थ, उनकी समस्याएँ उन्हें एक दूसरे के क़रीब ला सकता है। लेकिन इस यथार्थ का एक अन्य पहलू यह है कि स्त्रियाँ किसी अन्य अस्मिता में पहले से ही धँसी और फँसी हुई हैं। उन्हें इस दूसरी अस्मिताओं से उबारना, ख़ास तौर पर हमारे समाज में बहुत ही मुश्किल काम है। इसलिए वे कभी भी एक समुदाय नहीं हो सकती हैं। शायद वे सामाजिक समुदाय पहले बन जाएँगी, लेकिन उनके लिए राजनीति समुदाय बनना बहुत ही मुश्किल होगा। इसलिए हमें अलग-अलग समुदायों के बारे में इसी तरह विचार करना होगा। मेरा यह मानना है कि हमारे समाज की कोई ऐसी ग्रंथि नहीं हैं जो राजनीतिक और सामाजिक समुदाय को अलग-अलग रखे या उन्हें एक कर दे। इन दोनों में संदर्भ-सीमित या संदर्भ-निर्भर रिश्ता है।

यह भी तो हो सकता है कि समय के साथ कोई नया सामाजिक समूह बने जो कि राजनीतिक स्तर पर भी एक जैसा हो। जैसे हो सकता है कि मुसलमानों के भीतर पसमांदा मुस्लिम की श्रेणी एक सामाजिक समुदाय और राजनीतिक समुदाय- दोनों के रूप में काम करे। इस तरह, मुम्बई में यह सारे उत्तर भारतीयों को एक सामाजिक समुदाय के रूप में पेश करने का प्रयास किया जाता है, और इससे इनमें एक राजनीतिक समुदाय की भाँति व्यवहार करने की प्रवृत्ति का भी विकास होता है। तो क्या हम यह कह सकते हैं कि इन समुदायों का निर्माण एक गतिशील प्रक्रिया है?

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 57

सतीश देशपाण्डे : निश्चित तौर पर, इसमें हर मामले पर अलग तरीक़े से ध्यान देना पड़ेगा। आपने जो उदाहरण दिये, वे काफ़ी अच्छे हैं। निश्चित रूप से, ये श्रेणियाँ स्थिर नहीं हैं और इसे लेकर हमारे समाज में काफ़ी उथल-पुथल मची हुई है। अस्मिताओं का गठन और क्षरण नियमित रूप से जारी है। लेकिन हमें समय-समय पर ख़ुद से भी यह सवाल पूछना है कि यह सवाल पूछकर हम किस तरह का जवाब चाहते हैं। हम आख़िर यह सवाल क्यों पूछ रहे हैं? क्या है जो हमारे विश्लेषण में नहीं आ पा रहा है या हमारे हाथों से फिसल जा रहा है। यदि हम ऐसा सोचे तो हमें शायद यह समझने का रास्ता मिलेगा कि यदि हमें इसके प्रति एक तरह की बेचैनी है, तो वह क्यों है।

बातचीत के आरम्भ में भी आपने 'वोट बैंक' का ज़िक्र किया था। वोट बैंक एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, लेकिन आज-कल इसका इस्तेमाल ख़ासे ढीले-ढाले ढंग से पत्रकारों और सेफ़ोलॉजिस्टों और पत्रकारों-टिप्पणीकारों द्वारा किया जाता है। क्या भारत में वास्तव में 'वोट बैंक' पॉलिटिक्स होती है?

> श्रीनिवास का यह दावा था कि 'वोट बैंक' शब्द का आविष्कार उन्होंने किया था। उन्होंने एक-आध बार शिकायती अंदाज़ में लिखा कि इस शब्द का श्रेय ग़लत तरीक़े से राजनीतिशास्त्रियों या पत्रकारों को दे दिया जाता है। ... मुझे लगता है कि यदि समाजशास्त्र इस अवधारणा की मिल्कियत पर अपना दावा न करे, तो ही बेहतर है।

सतीश देशपाण्डे : 'वोट बैंक' की गाथा हमारे अनुशासनों के इतिहास का बड़ा ही रोचक हिस्सा है। हमारे दिग्गज समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास का यह दावा था कि 'वोट बैंक' शब्द का आविष्कार उन्होंने किया था। उन्होंने एक-आध बार शिकायती अंदाज़ में लिखा कि इस शब्द का श्रेय ग़लत तरीक़े से राजनीतिशास्त्रियों या पत्रकारों को दे दिया जाता है। उन्होंने बहुत क्षोभ के साथ यह लिखा कि समाजशास्त्र के योगदान को जो आदर दिया जाना चाहिए, वह नहीं दिया जा रहा है। लेकिन मैं इस शब्द को एक विडम्बना के तौर पर ही देखता हूँ और मुझे लगता है कि यदि समाजशास्त्र इस अवधारणा की मिल्कियत पर अपना दावा न करे, तो ही बेहतर है। 'वोट बैंक' की अवधारणा 'आलसी प्रत्यय' का एक अनुपम उदाहरण है। यह उद्यमी प्रत्यय का विलोम है। यह एक ऐसा प्रत्यय है जो घर बैठे ही सब कुछ समझने का दावा करता है। अभी मैं एक किताब के सम्पादन के संदर्भ में 1962 के चुनावी अध्ययन का विश्लेषण कर रहा था। पहली बार इसी वर्ष रजनी कोठारी और उनके सहयोगियों द्वारा चुनावी अध्ययन किया गया था। उस समय *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* में इस संदर्भ में कई लेख छपे थे। तो 1962 में ही यह बिल्कुल साफ़ था कि 'वोट बैंक' नाम की कोई चीज़ नहीं होती है और न ही यह हमारे यहाँ हो सकती है। दरअसल, यह बहुत ही नादान क़िस्म की अवधारणा है। यह राजनीति के प्रति इस तरह मासूम या नादान है कि इसे हम समाजशास्त्री या समाज-विज्ञानी प्रत्यय ही नहीं मान सकते हैं। संक्षेप में कहें, तो इसकी कमी यह है कि यह चुनावी राजनीति से राजनीति ही हर लेता है। इसमें सीधी सी बात होती है कि यदि उम्मीदवार एक ख़ास अस्मिता का है तो उस अस्मिता से जुड़े सब यंत्रवत् उस अस्मिता को ही अपना मत दे देंगे। इसमें राजनीति करने के लिए कुछ रह नहीं

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 58

जाता है। ऐसा तो 1962 में भी नहीं हो रहा था, और शायद शर्तिया तौर पर कहा जा सकता है कि यह कभी नहीं हो रहा था। असल में, राजनीति चीज़ ही ऐसी है। इसे आप कभी भी अस्मिता जैसे एक पहलू तक सीमित नहीं रख सकते। इसमें आपको सभी आयामों पर ध्यान देना होता है। नयी सामने आने वाली स्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया देनी होती है, अपना बचाव करना होता है, अपने प्रतियोगी पर प्रहार करना होता है आदि। इस तरह यह निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। मान लीजिए जाति-अस्मिता एक ऐसी चीज़ है जो किसी उम्मीदवार को जीत दिला सकती है। लेकिन हर पार्टी उसी जाति के उम्मीदवार को खड़ा कर देगी। ऐसे में, घूम-फिर कर हर उम्मीदवार को राजनीति और दूसरे पहलुओं की ओर ध्यान देना ही पड़ता है। यथार्थ में हमें शुरू से ही पता था कि 'वोट बैंक' जैसी कोई चीज़ नहीं है, लेकिन पता नहीं क्यों इसकी हवा चल गयी। जैसा कि मैं पहले कह रहा था समाजशास्त्र में एक ऐसी स्थिति थी, जब लोग कहीं बहुत ऊपर से नीचे की ओर देख रहे थे कि नीचे कीचड़ में लोग क्या कर रहे हैं। दरअसल, ऐसी प्रवृत्ति से ही ऐसे 'आलसी प्रत्यय' पैदा हो सकते हैं। मेरे ख़याल से इस प्रत्यय को एक हादसा मानना चाहिए।

लेकिन यह बात तो होती है कि किसी पार्टी या उम्मीदवार के पास एक जाति या समुदाय का आधार वोट हो... लेकिन हमें इसे 'वोट बैंक' से अलग रखना चाहिए।

सतीश देशपाण्डे : हाँ यह सही है। लेकिन 'वोट बैंक' की अवधारणा किसी आधार मतदाता समूह से संबंधित नहीं है। यह एक ख़ास तरह के मतदाता समूह के विलोम के रूप में है। यह ख़ास तरह का मतदाता समूह तार्किक, सेकुलर और सुशिक्षित होता है। यह किसी तरह की अस्मिता के दायरे में नहीं बँधा होता है और ठण्डे दिमाग़ से, विशुद्ध राजनीतिक मुद्दों के आधार पर फ़ैसला करता है। कहना न होगा कि इस तरह का व्यक्ति या मतदाता पूरी तरह काल्पनिक है। न तो कभी शहरी भारत में कोई ऐसा मतदाता हुआ है और न ही विकसित पश्चिमी लोकतांत्रिक समाजों में इस तरह का मतदाता रहा है। अब ऐसे काल्पनिक मतदाता के विलोम के तौर पर 'वोट बैंक' का प्रयोग किया जाता है। मसलन हम जाति का उदहारण लेते हैं, कोई अन्य उदाहरण भी हो सकता है। मान लीजिए कि हम किसी जाति से संबंधित हैं, जिसकी समस्याएँ एक जैसी है और इन समस्याओं का समाधान भी एक जैसा है। अब आप इस जाति को गोलबंद करके उसकी आकांक्षाओं को राजनीतिक आवाज़ देने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसा हो सकता है। लेकिन ऐसा करते वक़्त आप राजनीति कर रहे हैं। यह 'वोट बैंक' बनाना नहीं है। जब तक आपकी राजनीति सफल है, यानी आपकी जाति के लोगों को लगता है कि आप उनकी समस्याओं को हल कर सकते हैं, तब तक आपकी राजनीति सफल है और लोग आपको समर्थन देंगे। लेकिन आपकी राजनीति के सफल होने पर स्पर्धा में अन्य लोग भी सामने आएँगे। लेकिन यदि आपकी राजनीति विफल होती है तो फिर लोग दूसरे विकल्प की तलाश करेंगे। इस तरह, सामुदायिक आधार और 'वोट बैंक' दो अलग-अलग चीज़ हैं। सामुदायिक आधार का होना स्वाभाविक और अपेक्षित है। लेकिन 'वोट बैंक' की अवधारणा किसी काल्पनिक मतदाता के विलोम में बनी है, जो कि मेरे ख़याल से बिल्कुल ही निराधार है।

राजनीतिशास्त्र को अपनी एम्पिरिकल ग्राउंडिग या तथ्यगत आधार पर काफ़ी कुछ चुनावी अध्ययन से मिला है। इसमें सी.एस.डी.एस. की अगाऊ भूमिका रही है। एक समाजशास्त्री के रूप में आप इस भूमिका का कैसे मूल्यांकन करते हैं?

सतीश देशपाण्डे : इसमें कोई दो राय नहीं है कि इसकी भूमिका काफ़ी महत्त्वपूर्ण रही है। लेकिन अब हम एक नये मोड़ पर हैं, जहाँ हम इसकी भूमिका को लेकर नये सिरे जागरूक हो रहे हैं। सिफल सी.एस.डी.एस.

ही नहीं अन्य कई संस्थाओं में भी इस पर ज़ोर दिया जा रहा है, सिफल राजनीतिशास्त्री ही नहीं बल्कि अन्य अनुशासनों के लोग भी इससे जुड़े रहे हैं। मसलन, सेफ़ोलॅजी सबसे अग्रणी भूमिका निभाने वाले प्रणय रॉय आदि जैसे लोग अर्थशास्त्र से संबंधित थे। लेकिन उनके अनुशासन को सेफ़ोलॅजी से कभी कोई रुचि नहीं रही। असल में, यह चीज़ ही ऐसी है जो अलग-अलग अनुशासनों से लोगों को खींच कर लाती है। लेकिन आगे अब यह किस रास्ते पर जाएगा, इस पर सोचना ज़रूरी है। अभी तक सी.एस.डी.एस. के पुराने काम से जितना निचोड़ निकाला जाना चाहिए था, उतना नहीं हुआ है। बहुत कुछ हुआ है, लेकिन अभी और किया जाना बाक़ी है। साथ ही, आगे के काम के लिए भी तैयारी करनी है। इस लिहाज़ से राजनीतिशास्त्र में, चुनावी अध्ययन तथा सी.एस.डी.एस. की परम्परा में भी एक नया मोड़ है। इससे सबसे बड़ी चुनौती यह है कि सेफ़ोलॅजी से परहेज़ किये बिना ही उससे दूरी बनाए रखी जाए। मीडिया की ओर से और हर दिशा से इतने ज़्यादा दबाव आ रहे हैं कि उन्हें झेलना ही सबसे बड़ी बात है।

भारत में राजनीतिक पार्टियों की रचना पूरे समाज के नुमाइंदगी के दावे से शुरू हुई थी। यह अलग बात है कि ये राष्ट्रीय पार्टियाँ भी अघोषित रूप से किसी-न-किसी जाति समूह के वर्चस्व तले काम करती थी। लेकिन अब खुले रूप में बिरादरियों की अलग-अलग पार्टियाँ बनने लगी हैं। क्या इस राजनीतिक परिघटना की कोई समाजशास्त्रीय व्याख्या सम्भव है?

सतीश देशपाण्डे : इस सवाल के पहले भाग में यह कहा जा रहा है कि राजनीतिक पार्टियों की रचना पूरे समाज के नुमाइंदगी के दावे से शुरू हुई थी। मेरे ख़याल से यह बात पूरी तरह सही नहीं है। ऐसा शायद आज़ादी के बाद के दौर की 'कांग्रेस प्रणाली' के कारण कहा जाता है। यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसमें सत्तापक्ष और विपक्ष, दोनों ही कांग्रेस के भीतर होता था। लेकिन अब तो यह हमारे इतिहास की चीज़ है। 'कांग्रेस-प्रणाली' को भी ख़त्म हुए तक़रबीन तीन दशक से ज़्यादा तो हो चुके हैं। कांग्रेस भी जब कांग्रेस व्यवस्था के रूप में थी तो यह एक गठबंधन थी। लेकिन कभी पूरे समाज के प्रतिनिधित्व का दावा मूर्त्त रूप में नहीं था। आवाम को पता था कि सत्ता में बैठे लोग उनसे दूर हैं। लेकिन फिर भी जुड़ाव के कुछ तार थे, जिस काारण उन्हें प्रतिनिधित्व करने की इज़ाज़त प्राप्त थी। लेकिन अब लोग वो इज़ाज़त देने के लिए तैयार नहीं है। ऐसा नहीं है कि पहले सामाजिक स्तर पर दरारें नहीं थीं, वो पहले भी थीं, लेकिन जिस तरह का समझौता पहले हो सकता था, अब वैसा नहीं हो सकता है। कम-से-कम वे समझौते तो एक ही ढाँचे के भीतर तो नहीं हो पा रहे हैं। इसलिए अब अलग-अलग समुदायों की पार्टियाँ बन रही हैं। घुमा-फिरा कर समझौते वही होंगे, लेकिन वे नये सिरे से होंगे। अब एक पार्टी के भीतर विभिन्न गुटों के बीच समझौता होने के बजाय विभिन्न पार्टियों के बीच समझौते हो रहे हैं। अब किसी एक पार्टी में विभिन्न समुदायों को समेटने की क्षमता नहीं रही है। इसलिए, विभिन्न समुदायों के बीच गठबंधन हमारी राजनीति की बुनियाद में है। गठबंधन ही एक प्रकार है जो सफल हो सकता है। लेकिन पहले इसका रूप परोक्ष होता था, अब यह प्रत्यक्ष हो गया है। अब यह प्रक्रिया ज़्यादा तफ़सील से हमारे सामने हैं। यानी अब ज़्यादा निचले स्तर से यह देखा जा सकता है कि किस तरह विभिन्न समुदायों के बीच गठजोड़ बनता है और किस तरह से लेन-देन होता है। साथ ही, अब स्थानीय, प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर समूहन या एग्रिगेशन की प्रक्रिया भी ज़्यादा स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

लेकिन मेरे मन में एक प्रश्न है। एक ओर बहुजन समाज पार्टी जैसी पार्टी है जो बहुजन से सर्वजन की ओर बढ़ती है, दूसरी ओर, आम आदमी पार्टी के उभार जैसी परिघटना है जिसमें यह दावा है कि हम जाति, धर्म आदि से परे किसी अन्य चीज़ की बात कर रहे हैं। तो इस तरह की राजनीतिक विकास को कैसे समझ सकते हैं?

04_satish_Layout 1 5/1/2014 3:13 PM Page 60

सतीश देशपाण्डे : यह एक वाजिब सवाल है। यदि आप एक ख़ास परिप्रेक्ष्य से देखें तो आम आदमी पार्टी वामपंथी पार्टियों का विलोम लगता है। वामपंथियों का भी यही दावा था कि हमारे पास एक ऐसी विचारधारा है जो अपने-आप में हर चीज़ को घोल लेगी, मिला लेगी। उनका मानना था कि आपके साथ जाति के कारण अन्याय हुआ है या आपकी वर्ग स्थिति के कारण आप पर अत्याचार हुआ है, लेकिन हमारे पास ऐसी विचारधारा है जो आपकी पीड़ा और राजनीति की आवाज़ है। यह पूरी तरह से विचारधारात्मक दावा था। दूसरी ओर, आम आदमी पार्टी का लगभग यही कहना है कि हमारे पास कोई विचारधारा नहीं है। हम हर तरह की विचारधारा से परे हैं, हमें सिफल काम चाहिए, हमें भ्रष्टाचार मिटाना है। यानी कि हमारी विचारधारा एक ही है— व्यावहारिकता। इसलिए यह एक तरह से उसका विलोम है। तो हमें देखना है कि यह कहाँ तक सफल हो पाती है। देखने से ऐसा लगता है कि इस पार्टी का दावा हमारे समाज की जटिल संरचना के अनुकूल नहीं है। लेकिन ये आगे किस सीमा तक सफल हो पाते हैं, यह देखने की बात है।

या फिर हम यह कह सकते हैं कि अस्मिता की राजनीति के समानांतर हमेशा ही एक ऐसी राजनीति रही है जो यह दावा करती रही है कि अस्मिताओं से परे भी कोई चीज़ हो सकती है। चाहे वामपंथी राजनीति हो या आम आदमी पार्टी जैसी परिघटना— इन सबमें अस्मिताओं से परे जाने की दावेदारी की जा रही है, कई बार बहुत ठोस रूप में और कई बार सतही तरीक़े से ... ।

सतीश देशपाण्डे : हाँ, हाँ, पर देखिए इसमें दिक़्क़त यह है कि अतीत में वामपंथी विचारधारा का राजनीति पर ज़ोर था, चुनाव पर नहीं। आप जानते ही हैं कि इस राजनीति के कई चरण रहे हैं और इनके लिए चुनाव एक ज़रिया मात्र रहा है। चुनाव के मुद्दे पर वाम में कई विभाजन भी रहे हैं। चुनाव को सर्वोपरि मानना वामपंथी विचारधारा के लिए आसान नहीं है, जबकि आम आदमी पार्टी चुनाव से ही बनी है। चुनाव नहीं होते तो आम आदमी पार्टी का उभरना लगभग नामुमकिन था। यह देखने की बात होगी कि चुनाव के बाद इस पार्टी का क्या होगा। यही देखना कि क्या कोई संकर क़िस्म की संस्था आ पाती है, जो पुराने पार्टी की तरह भी नहीं हो, लेकिन चुनावी राजनीति से पूरी तरह पृथक् न हो।

क्या आप भारत में चुनाव का समाजशास्त्र विकसित करने के लिए कोई अकादमिक एजेंडा प्रस्तावित करना चाहेंगे?

सतीश देशपाण्डे : अभी हमारे लिए आशा का स्रोत यही है कि भारतीय चुनावी प्रक्रिया अपने-आप में बहुत ही प्रभावशाली चीज़ है। हमारे आपके चाहने या न चाहने से परे भी इसका असर है। चुनावों का समाजशास्त्र विकसित करने के लिए हमें कई तरह की सावधानियाँ बरतनी होंगी और अतीत से सीख लेनी होगी। सेफ़ोलॉजीनुमा अध्ययनों और चुनावी अध्ययन के पण्यीकरण से उभरने वाले ख़तरों का सामना करना होगा। हालाँकि एक-दो अपवादों को छोड़कर समाजशास्त्रियों की प्रवृत्ति यही रही है, मानो वे किसी ऊँचायी से चुनावी प्रक्रिया पर नीचे की ओर देख रहे हों। पहले की पीढ़ियों में जाने-अनजाने यह प्रवृत्ति थी। अब ऐसी प्रवृत्ति रखना सम्भव नहीं है। लेकिन उसकी जगह क्या होगा? हमें यह याद रखने की आवश्यकता है कि हमारा समाज चुनावमय होने से पहले मीडियामय है। मीडिया के कारण यह ख़ुशफ़हमी या ग़लतफ़हमी फ़ैलती है कि आपके पास बहुत जानकारी है। लेकिन हमें इस बात के प्रति जागरूक रहना होगा कि हमारा विवेक इससे दब न जाए। विशिष्ट एजेंडा बनाने या न बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि जिस तरह का काम बाज़ार नहीं माँग रहा है, उस तरह का काम करने के लिए हमें ख़ुद को तैयार करना है। इसलिए चुनावी नतीजों से परे चुनावी प्रक्रिया पर लम्बे समय तक काम और अलग-अलग प्रविधियों का इस्तेमाल करना आदि हमारे सामने मुख्य चुनौतियाँ हैं।